

## अर्थ की अवधारणा-अपोहवाद: धर्मकीर्ति के विशेष सन्दर्भ में

श्रुति शर्मा

शोध छात्रा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश, भारत

### सारांश

गौतम बुद्ध के अंगुत्तर निकाय (३,१,३४) के 'अनित्य, दुख, अनात्म' इस एक सूत्र में भगवान बुद्ध का सारा दर्शन समाविष्ट है। उन्होंने क्षणिकवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिसका आगे चल कर अन्य बौद्ध दार्शनिकों द्वारा विस्तार से वर्णन किया गया। क्षणिकवाद बौद्ध दर्शन का मूलभूत सिद्धांत है। जिसके अनुसार- इस विश्व की कोई भी वस्तु न ही पूर्ण नित्य है और न ही पूर्ण अनित्य। वस्तु का निरंतर परिवर्तन होता रहता है और कोई भी पदार्थ एक क्षण से अधिक स्थायी नहीं रह सकता है। उनके अनुसार- जो क्षणिक है वही सत् है- "यत् क्षणिकं तत् सत्"। इसी सिद्धांत से अनित्यवाद का सिद्धांत निकल कर आया, जिसके अनुसार सभी वस्तुएं अनित्य हैं। इससे सामान्य की स्थापना नहीं हो सकती। सामान्य का अर्थ- किसी वर्ग की सभी वस्तुओं अथवा व्यक्तियों में पाया जाने वाला सर्वगत लक्षण या धर्म है, जैसे विभिन्न गायों में पाया जाने वाला सामान्य लक्षण "गौत्व" है। अतः अनित्यवाद सिद्धांत की स्थापना के लिए बौद्ध दार्शनिकों के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह सामान्य का प्रबल रूप से खण्डन करें। इसके आधार पर उन्होंने अपोहवाद की स्थापना की। पुनः अपोहवाद बौद्ध दर्शन का भाषा दर्शन विषयक सिद्धांत है, जिसके अनुसार जब कोई शब्द बोला जाता है, तो वह असंख्य संभावित अर्थों को अपोहित करके अर्थ शेष रहने देता है और वही उस शब्द का अर्थ कहा जाता है। उनके अनुसार शब्द न ही सामान्य का वाचक है न ही विशेषों का। यह केवल अतद्-व्यावृत्ति या तदभिन्नभिन्नत्व के द्वारा विकल्पित विषय को ही सूचित करता है। इस प्रकार अपोहवाद का सम्बन्ध न केवल सामान्य के खण्डन से है बल्कि शब्द-अर्थ सम्बन्ध से भी है। अतः प्रस्तुत शोध पत्र में अपोहवाद की अवधारणा को धर्मकीर्ति के विशेष सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया जायेगा।

**मूल शब्द:** बौद्ध दर्शन, धर्मकीर्ति, सामान्य, अपोहवाद, अर्थ की अवधारणा

### प्रस्तावना

गौतम बुद्ध के अंगुत्तर निकाय (३,१,३४) के 'अनित्य, दुख, अनात्म' इस एक सूत्र में भगवान बुद्ध का सारा दर्शन समाविष्ट है। उन्होंने क्षणिकवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिसका आगे चल कर अन्य बौद्ध दार्शनिकों द्वारा विस्तार से वर्णन किया गया। प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध दर्शन का केंद्रीय और महत्वपूर्ण सिद्धांत है। जहाँ 'प्रतीत्य' का अर्थ- 'निर्भर या आश्रित रह कर' एवं 'समुत्पाद' का अर्थ है 'उत्पत्ति'। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ हुआ- कारण पर निर्भर रह कर कार्य की उत्पत्ति। दूसरे शब्दों में- प्रत्येक वस्तु कारणानुसार होती है। कारण के नष्ट हो जाने पर वस्तु का भी विनाश हो जाता है। अतः प्रत्येक वस्तु नाशवान है। पुनः यह सिद्धांत अनित्यवाद के सिद्धांत से उद्भूत हुआ- जिसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। धर्मकीर्ति अनित्य को इंगित करते हुए कहते हैं, 'जो कुछ भी उत्पन्न स्वभाव वाला है, वह नाश स्वभाव वाला है'।<sup>1</sup> यह सिद्धांत आगे चल कर क्षणिकवाद सिद्धांत के रूप में विकसित हुआ, जिसके अनुसार सब कुछ क्षणिक है- सर्व क्षणिकम्। बौद्ध दर्शन में किसी भी वस्तु को स्थायी नहीं माना गया है। वस्तुएं एक क्षण में होती हैं और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाती हैं। जो कुछ भी इस सत्त्व में है वह सब क्षणभंगुर है। आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार- 'सत्ता मात्र में नाश पाया जाता है'।<sup>2</sup> इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक सत्त्व को भी अस्थायी स्वीकार करते हैं, क्योंकि यह अगले ही क्षण तिरोहित हो जाती है और इससे निःसृज अन्य प्रवृत्तियाँ प्रतिभासित होती हैं। अतः बौद्ध दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि हर

क्षण संसार का प्रत्येक पदार्थ विनाश और तिरोधान की प्रक्रिया से गुजरता है। अर्थात् संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य ही नहीं अपितु क्षणभंगुर भी है। किन्तु यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाये कि- संसार की सभी वस्तुएं अनित्य हैं तो जाति या सामान्य की स्थापना असंभव हो जाएगी। सामान्य का अर्थ किसी वर्ग की सभी वस्तुओं अथवा व्यक्तियों में पाया जाने वाला सर्वगत लक्षण या धर्म है, जिसके कारण सभी वस्तुएं एक जैसी प्रतीत होती हैं। जैसे विभिन्न गायों में पाया जाने वाला सामान्य लक्षण 'गौत्व' है। विभिन्न गायों के आकार, रंग आदि भिन्न हो सकते हैं, किन्तु उन सभी में कुछ लक्षण सर्वगत होते हैं, जिनके आधार पर गौत्व सामान्य का प्रत्यय प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों के लिए यह आवश्यक हो गया कि सामान्य का प्रबल ढंग से खण्डन किया जाये। साथ ही यह भी आवश्यक हो गया कि मनुष्य, गौत्व आदि अर्थात् जो अनेकता में एकता की प्रतीति होती है उसकी भी सही व्याख्या प्रस्तुत की जाये। इसी आधार पर बौद्ध दार्शनिक अपोहवाद के सिद्धांत की स्थापना करते हैं। अपोहवाद बौद्ध दर्शन का भाषा दर्शन विषयक केंद्रीय सिद्धांत भी है। अपोहवाद के अनुसार, जब कोई शब्द बोला जाता है, तो वह असंख्य संभावित अर्थों को अपोहित करके एक अर्थ शेष रहने देता है और वही उस शब्द का अर्थ कहा जाता है। उनके अनुसार शब्द न ही सामान्य का वाचक है और न ही विशेषों का। यह केवल अतद्-व्यावृत्ति या तदभिन्नभिन्नत्व के द्वारा विकल्पित विषय को ही सूचित करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि- अपोहवाद की मौलिकता इस बात में निहित है कि भाषा की मूल भूमिका विधानपरक नहीं बल्कि निषेधमूलक है। उदहारण के लिए- 'गाय' शब्द यह बताता है कि उसका वाच्यार्थ घोड़ा, बकरी, हाथी आदि नहीं है। अर्थात् शब्द का कार्य अपने अर्थ से भिन्न अन्य अर्थों का निषेध

<sup>1</sup> प्रमाणवार्तिक, 1/284-85.

<sup>2</sup> प्रमाणवार्तिक, 1/272- "सत्तामात्रनुबन्धित्वात् नाशस्य"।

करना है। अतः बौद्ध दर्शन में अपोहवाद का सम्बन्ध न केवल सामान्य के खण्डन से है बल्कि शब्द-अर्थ सम्बन्ध से भी है। इसलिए 'अर्थ की अवधारणा' बौद्ध दर्शन में 'अपोहवाद की अवधारणा' भी है, जिसे समझना आवश्यक है।

प्रस्तुत शोध पत्र में अपोहवाद की अवधारणा को दो बिन्दुओं के द्वारा समझने का प्रयास किया जायेगा। यथा-

- अपोहवाद सिद्धांत का आधार- सामान्य का खण्डन।
- अर्थ की अवधारणा के रूप में अपोहवाद। (जिसे धर्मकीर्ति के विशेष सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया जायेगा)।

### अपोहवाद सिद्धांत का आधार- सामान्य का खण्डन

हम वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से समान तथा अपने से भिन्न वस्तुओं से भिन्न करके ही जानते हैं। जिसके कारण वस्तु अन्य वस्तुओं के समान ज्ञात होती है, उसे सामान्य तथा जिसके कारण वह अन्यो से पृथक् मालूम होती है, उसे विशेष कहा जाता है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार, शब्द का वाच्यार्थ सामान्य और विशेष दोनों से ही नहीं होता है। शब्द का वाच्यार्थ विशेष नहीं हो सकता क्योंकि स्वलक्षण और क्षणिक वस्तुओं के स्वरूप को शब्द के द्वारा बताया नहीं जा सकता। इसी प्रकार शब्द का वाच्यार्थ सामान्य नहीं हो सकता क्योंकि उसके लिए हमें किसी तत्त्व को नित्य स्वीकार करना पड़ेगा। ध्यात्व है कि बौद्ध दार्शनिक क्षणिकवाद में विश्वास करते हैं, जिसके अनुसार सब कुछ क्षणिक है। अतः बौद्ध दार्शनिक सामान्य का खण्डन करने के लिए निम्नलिखित युक्ति देते हैं।

नैयायिक जाति या सामान्य तत्त्व के आधार पर शाश्वतवाद का समर्थन करते हैं, जिसका भाषा से सीधा सम्बन्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि- भाषा तत्त्व को उसके यथार्थ रूप में व्यक्त करती है। इसके विपरीत बौद्ध दार्शनिक तत्त्व को अंतिम रूप में क्षणिक स्वीकार करते हैं, जिससे भाषा उसे कभी भी व्यक्त नहीं कर सकती। पुनः न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक सामान्य को एक नित्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सामान्य किसी एक वर्ग में आने वाले सभी विशेषों में निहित रहता है, जिससे उनमें एकता का आभास होता है। इसके विपरीत बौद्ध दार्शनिक यह प्रश्न करते हैं कि- एक ही समय में एक विशेष में उपस्थित सामान्य दूसरे विशेष में भी कैसे हो सकता है? धर्मकीर्ति के अनुसार, जाति जातिमद् व्यक्ति से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि यह व्यक्ति स्वरूप है, तो उसी में रहेगी, अन्य में नहीं। अतः जाति में अनन्याश्रयता (व्यक्तिमात्रवृत्ति) प्रकाशित होगी जबकि जाति सर्वव्यक्तिवृत्ति मानी जाती है।

“न जातिर्जातिद्वयक्तरूपं येनापराश्रयम्।  
सिद्धम् पृथक् चेत्कार्यत्वं ह्यपेक्षेत्यभिधीयते”<sup>3</sup>

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार व्यक्ति में जाति जैसा कोई वस्तु तत्त्व नहीं होता। जिस एकता का हमें व्यक्तियों/वस्तुओं में आभास होता है, उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती बल्कि वह बुद्धि का विकल्प मात्र होता है। यह विकल्पित सामान्य ही शब्द का वाच्य है और यह अन्यापोहात्मक है। धर्मकीर्ति इसको व्याख्यित करते हुए लिखते हैं-

“तस्मादरूपा रूपाणां नाश्रयेणो कल्पित।  
तद्विशेषावताराथैज्यातिः शब्दैः प्रकाशयते”<sup>4</sup>

पुनः बौद्ध दार्शनिक सामान्य की सत्ता को भ्रम स्वीकार करते हैं। उदहारण के लिए- हमें भ्रम में रस्सी सर्प दिखाई देती है, लेकिन जैसे ही हमारा भ्रम टूटता है हमें उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार हम सामान्य की सत्ता को भी भ्रम के कारण के रूप मान लेते हैं जबकि वास्तविकता में उसका कोई अस्तित्व नहीं होता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए धर्मकीर्ति लिखते हैं-

“तस्यात् समानतैवास्मिन् सामान्येऽवस्तूलक्षणम्।  
कार्यं चेत् तदनेकं स्यान्शवरं च न तन्मतम्”<sup>5</sup>

कहने का आशय यह है कि- सामान्य का समानता धर्म अवस्तु का लक्षण (हेतु) है। व्यक्ति का कार्य यदि सामान्य है, तो वह भी व्यक्तियों की भांति अनेक और अनश्वर है। अतः ऐसी स्थिति में सामान्य को भ्रम मात्र मानना पड़ेगा। पुनः धर्मकीर्ति कहते हैं कि यदि समस्त वस्तुओं में नश्वर व्याप्त है तो सामान्य में नित्यता कैसे सिद्ध होगी? क्योंकि यदि व्यक्ति का कार्य सामने नहीं माना जायेगा, तब उसका व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा और इस प्रकार प्रतीयमान सम्बन्ध बाधित हो जायेगा।

ध्यातव्य है कि बौद्ध दार्शनिक दो प्रकार के सत् स्वीकार करते हैं- यथा परमार्थ सत् और संवृत्ति सत्। परमार्थ सत् ही वास्तविक सत् होता है जो व्यक्ति है, जिसे स्वलक्षण भी कहते हैं। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है इसलिए इसे शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि वस्तुएं क्षणिक होती हैं। वही संवृत्ति सत् व्यावहारिक होता है, इसे जाति या सामान्य लक्षण भी कहते हैं। इसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। परन्तु इसे भी शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि इसकी सत्ता अनित्य है। अतः शब्दों के द्वारा केवल विकल्पित सामान्य को ही व्यक्त किया जा सकता है। इसके विपरीत मीमांसक आदि वस्तुवादी दार्शनिक सामान्य/जाति को सत् स्वीकार करते हैं और इस प्रकार शब्दों की भी वास्तविक सत्ता होती है। उनके अनुसार शब्द नित्य होते हैं, कल्पनामात्र नहीं।

बौद्ध दार्शनिक सामान्य के खण्डन में एक अन्य बिंदु यह देते हैं कि- जिसका हमें प्रत्यक्ष होता है, उसका हमें रूप, रंग, आकार आदि दिखाई देता है। परन्तु सामान्य के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस सन्दर्भ में धर्मकीर्ति लिखते हैं- “घटादि वस्तु के बिना ही सामान्य-ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर सामान्य में भाव-धर्मत्व की हानि प्रसक्त होती है। साथ ही रूपादि के समान सामान्य का भावरूपत्वेन ग्रहण नहीं होता। उसमें भावरूपता निभ जाती है। अतः सामान्य कल्पितमत्र लक्षण केवल प्रमेयतत्त्व है। पुनः सामान्य वस्तु के निषेध में भी नहीं रह सकता है। क्योंकि वह अनास्तित्ववान है। उदहारण के लिए- सामान्य घट में तो रह सकता है परन्तु घट के अभाव में नहीं। इस प्रकार हमें किसी विशेष घट का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः सामान्य अभाव (वस्तु के अभाव) में भी नहीं रह सकता है। इस प्रकार उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर बौद्ध दार्शनिक सामान्य की अवधारणा का खण्डन करते हैं। क्योंकि वस्तु क्षणिक और स्वलक्षण होता है इसलिए शब्द का वाच्यार्थ न ही सामान्य हो सकता है न ही विशेष।

<sup>4</sup> वही, श्लोक- 28

<sup>5</sup> धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्ष-परिच्छेद-श्लोक-43.

<sup>3</sup> धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्ष-परिच्छेद-श्लोक-25.

### अर्थ की अवधारणा के रूप में अपोहवाद

भारतीय दार्शनिकों में 'शब्द' को एक स्वतंत्र या पृथक प्रमाण के रूप में मानने में अनेक प्रकार के मतभेद हैं। जहाँ चार्वाक, बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन 'शब्द' को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते वही अन्य दर्शन यथा- न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त दर्शन 'शब्द' को स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करते हैं। चार्वाक दार्शनिक शब्द को पृथक प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार दूसरों द्वारा कथित शब्द विश्वास योग्य नहीं होता। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक यथावसर 'शब्द प्रमाण' का अंतर्भाव प्रत्यक्ष या अनुमान में करते हैं। वही वैशेषिक दार्शनिक 'शब्द प्रमाण' को अनुसार प्रमाण के अंतर्गत मानते हैं।

पुनःश्च यह प्रश्न उठता है कि पद और अर्थ में क्या सम्बन्ध है? अर्थात् पद और अर्थ के सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? तथा यह सम्बन्ध नित्य है या अनित्य। विभिन्न दर्शनों में इसकी व्याख्या अलग-अलग की गयी है। बौद्ध दार्शनिकों का मानना है कि शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार का कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। अतः वहाँ नित्यता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही बौद्ध शब्द को क्षणिक मानते हैं, जिसके कारण शब्द अनित्य ही माना गया है। उनके अनुसार शब्द का अर्थ 'अपोह' से व्यक्त होता है और किसी भी दार्शनिक के मत में अपोह कोई सम्बन्ध नहीं है।

'अपोह' से तात्पर्य 'अतद्-व्यावृत्ति या तदभिन्नभिन्नत्व'। इस अपोह से अन्य की व्यावृत्ति करके ही किसी वस्तु का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में- "संसार की प्रत्येक वस्तु दूसरे से भिन्न है। किन्हीं भी दो वस्तुओं में पूर्णतः एकता नहीं हो सकती है। अतः प्रत्येक वस्तु अपने से भिन्न वस्तु का अपोह है।"<sup>6</sup> अर्थात् शब्द का कार्य अपने से भिन्न अन्य शब्द का खण्डन करना होता है। सर्वप्रथम आचार्य दिङ्नाग ने 'अपोहवाद' का प्रतिपादन अपने 'प्रमाण-समुच्चय' में न्याय-शैली में किया। जिसका खण्डन आचार्य उद्योतकार ने "न्याय-वार्तिका" में तथा कुमारिल-भट्ट ने "मीमांसाश्लोक-वार्तिका" में किया। तत्पश्चात् आचार्य धर्मकीर्ति ने अपनी कृति 'प्रमाणवार्तिका' में नैयायिकों तथा मीमांसकों की युक्तियों का प्रबल तर्कों से खण्डन कर दिङ्नाग सम्मत अपोहवाद की पुनः स्थापना की।

आचार्य दिङ्नाग 'अपोहवाद' को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि- शब्द प्रतिशोध सूचक है। ये अपोह, व्यावृत्ति या निषेध के लिए प्रयुक्त होते हैं।<sup>7</sup> कहने का आशय यह है कि- 'संप्रत्यय या नाम' किसी वस्तु का ज्ञान नहीं कराते, बल्कि हम भ्रम वश यह मान लेते हैं कि शब्दों से किसी वस्तु का ज्ञान होता है। शब्द तो प्रतिषेध मूलक है और वे किसी वस्तु का संकेत अन्य भिन्न वस्तु के निषेध से करते हैं। आर. के. मिश्रा, अपनी पुस्तक "Buddhist Theory Of Meaning and Literary Analysis" में धर्मकीर्ति के 'अर्थ के अवधारणा' को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि- "Words have no direct access to the external reality (vastavārtha). The function of verbal import is simply to negate the counter- correlates of the object." अर्थात् शब्द का बाह्य सत्ता के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, बल्कि अपने से भिन्न का निषेध करना है।

अपोहवाद की व्याख्या का आरंभ धर्मकीर्ति इस प्रश्न से करते हैं कि- क्या शब्द में पहले से ही अन्य के निषेध की शक्ति होती है अथवा नहीं? इसका उत्तर वह निम्न श्लोक के माध्यम से देते हैं यथा-

“बाह्यशक्तिव्यवच्छेदनिष्ठाभावेऽपि तच्छ्रुतिः”<sup>8</sup>

सरल शब्दों में कहा जाए तो – किसी भी शब्द में अन्यापोह का वाचक कोई पृथक शब्द नहीं होता तथापि शब्दों में अन्य के निषेध की शक्ति पहले से ही विद्यमान होती है जिसका भान स्वतः हो जाता है। उदाहरण के लिए 'गाय' शब्द में गाय इत्यादि का व्यवहार दृश्य होता है। अतः इनमें पहले से ही निषेध की शक्ति रहती है। जिससे अन्य के निषेध (अन्यापोह) का ज्ञान हमें स्वयं हो जाता है

इस प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्येक शब्द की अन्यापोह रूप में ही शक्ति होती है। इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-

“विकल्पप्रतिबिम्बेषु तन्निष्ठेषु निबन्धयते।  
ततोअन्यापोहनिष्ठात्वादुक्ताअन्यापोहकृत् श्रुतिः”<sup>9</sup>

अर्थात् प्रत्येक शब्द के लिए, उनके द्वारा एक जाति विकल्प उत्पन्न किया जाता है। यह विकल्पित सामान्य ज्ञान की तरह प्रतिबिंबित होता है और इसकी प्रवृत्ति पुरुष से करायी जाती है। उदाहरण के लिए गोत्व का विकल्प जाति स्वरूप अगोभिन्नत्व होगा। इसका ज्ञान अन्यापोह रूप होगा, जिसका व्यवहार पुरुष द्वारा होगा।

पुनःश्च प्रश्न उठता है कि- यदि शब्द की शक्ति अन्यापोहरूप में होती है, तो वह क्या है जो हमें बाहर अर्थ के रूप में प्रतीत होता है? धर्मकीर्ति के अनुसार-

“व्यतिरेकिव यज्ज्ञाने भात्यार्थप्रतिबिम्बकम्।  
शब्दात् तदपि नार्थात्मा भ्रांतिः सा वासनोद्भव”<sup>10</sup>

अर्थात् शब्दों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अर्थ के रूप में बह्यार्थ आभास होता है। परन्तु वास्तविकता में अर्थ बाहर न होकर अनादी संस्कारों से उत्पन्न ज्ञानगत आकार ही होता है। जिसका हमें केशोण्डुक के समान भ्रम मात्र होता है।

धर्मकीर्ति के अनुसार- शब्द का ज्ञान होने पर बाह्य अर्थ का कौन सा अंश प्रतीत होता है। उनके अनुसार कोई नहीं। पुनः अन्यापोह रूप होने के कारण ज्ञानकार का बाह्य अर्थ के रूप में ज्ञान न होने से "इस शब्द का यह अर्थ है", यह संकेत क्रिया भी संभव नहीं होगी। फिर यह प्रश्न उठता है कि- जब किसी शब्द का अर्थ बाह्य जगत में है ही नहीं, तो उस शब्द का प्रयोग होने पर उसकी बाह्य स्थित अर्थ में प्रवृत्ति क्यों होती है? धर्मकीर्ति के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर है- अन्यापोह। इसे वह एक उदाहरण के द्वारा समझाते हैं- जैसे गाय शब्द अगोभिन्नत्व शब्द को बताता है, जो बाहर विद्यमान सभी गायों में अनुस्यूत है। इसीलिए गाय शब्द सुनने पर श्रोता की बह्यार्थ में प्रवृत्ति हो जाती है।<sup>11</sup> इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए वह कहते हैं -

<sup>8</sup> धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिका, प्रत्यक्ष-परिच्छेद; अन्यापोह-विचार, श्लोक-163.

<sup>9</sup> वही, श्लोक-164.

<sup>10</sup> धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिका, प्रत्यक्ष-परिच्छेद; अन्यापोह-विचार, श्लोक-165.

<sup>11</sup> वही, श्लोक-167.

<sup>6</sup> हेमलता श्रीवास्तव, 'शब्दसौत्रान्तिक ज्ञानमीमांसा' पृष्ठ-130.

<sup>7</sup> वही, पृष्ठ-131

“शब्दस्यान्वयिनः कार्यमर्थेनान्वयिना स च  
अनन्वयी धियोभेदाद् दर्शनाभ्यासनिर्मितः”<sup>12</sup>

अर्थात् अन्वयी पदार्थ का अन्वयी अर्थ के साथ सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु अन्योह पदार्थ का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। उदहारण के लिए— गाय शब्द का गाय अर्थ के साथ सम्बन्ध तो हो सकता है, किन्तु अगाय के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह उठता है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है, तो अन्यापोहरूप धर्म वाच्य कैसे होगा? धर्मकीर्ति इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि— बुद्धिगत आकार में अपोहंश के आरोप के कारण शब्द में अन्यव्यावृत्त अर्थ की प्राप्ति होती है, जिसके कारण अन्यापोह को शब्दार्थ कहते हैं और इसीसे उसका स्वरूप भी अन्यापोह होता है।<sup>13</sup>

फिर यह प्रश्न उठता है की अन्यापोह आन्तरिक होता है या बाह्य ? धर्मकीर्ति के अनुसार –

“मिथ्यावभासिनो वैते प्रत्ययाः शब्दनिर्मिताः।  
अनुयांतिममर्थाशमिति चापोहकृत श्रुतिः”<sup>14</sup>

अर्थात् शब्द का सम्बन्ध जिस विकल्पित जाति से होता है, वह बाहर नहीं और जो बाहर है, उससे शब्द का सम्बन्ध नहीं। अतः प्रश्न उठता है कि— अन्यापोहकृत श्रुति कहने का कारण क्या है? इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यद्यपि अन्यापोह आन्तरिक है, तथापि वह बाहर अध्यारोपित होता है इसलिए जब कोई श्रोता कोई शब्द सुनता है, तो उसका व्यवहार बाहर स्थित पदार्थों में हो जाता है। धर्मकीर्ति के अनुसार-

“तस्मात् संकेतकालेपि निर्दिष्टार्थेन संयुतः।  
स्वप्रतीतिफलेनान्यापोहः सम्बध्यते श्रुतौ”<sup>15</sup>

अर्थात् सबसे पहले शब्द का अर्थ के साथ संकेत-ग्रहण होता है। उसके बाद वाक्यार्थ बोध होता है। किन्तु व्यवहार में किसी शब्द के द्वारा अन्य के ही निषेध की प्रतीति होती है। जिससे संकेत काल में अन्यापोह होने के कारण वही शब्द-अर्थ का सम्बन्ध होता है। धर्मकीर्ति के अनुसार- शब्द प्रयोग का एकमात्र उद्देश्य अन्यापोह की प्रतीति कराना है, साथ ही अन्यापोह का सम्बन्ध शब्द के साथ होता है न की अर्थ के साथ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि- धर्मकीर्ति अर्थ की अवधारणा को अपोहा के स्वरूप को स्पष्ट करने के माध्यम से व्याख्यित करते हैं। जिसके आधार के लिए वह सामान्य का खण्डन करते हैं। इस प्रकार यह कथन करना अनुचित न होगा कि- बौद्ध दर्शन में अर्थ की अवधारणा और सामान्य का खण्डन, अपोहवाद के दो अहम् पहलु हैं। जिनमें एक की भी चर्चा न किये बिना अपोहवाद के सिद्धांत को भली-भांति समझाना अविचारणीय होगा।

## सन्दर्भ सूची

1. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, “अपोहसिद्धि” (रत्नकीर्ति विरचित), केंद्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी 1994.
2. धर्मकीर्ति, “प्रमाणवार्तिक” (वार्तिकलंकार-भाष्य-संस्कृत कमेन्ट्री-प्रज्ञाकार गुप्ता और वार्तिकालंकार-भाष्य-व्याख्या-हिंदी कमेन्ट्री-स्वामी योगिन्द्रानन्द), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1994.
3. कुमारी, नीरजा, “अपोहवाद- एक विश्लेषण” (कुमारिल कृत खण्डनके आधार पर), विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली 2016.
4. शास्त्री, द्वारिकादास, “अपोहवादः” (बौद्ध दार्शनिकानां प्रमुखों वादः), बौद्ध भारती, वाराणसी 1992.
5. श्रीवास्तव, हेमलता, “बौद्ध सौत्रान्तिक ज्ञानमीमांसा” महामाया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 2005.
6. मिश्रा, आर. के. “बुद्धिस्ट थ्योरी ऑफ़ मीनिंग एंड लिटरेरी एनालिसिस”, डी. के. प्रिंट वर्ड, नई दिल्ली 1965.

<sup>12</sup> धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्ष-परिच्छेद; अन्यापोह-विचार, श्लोक-168.

<sup>13</sup> वही, श्लोक-169.

<sup>14</sup> वही, श्लोक-170.

<sup>15</sup> श्लोक- 171